29 सामाजिक विज्ञान के चश्मे से जो मुझे मिला

निधि तिवारी

एक दिन, जब मैं शिमोगा से गाड़ी चलाते हुए लौट रही थी तो अपने एक नजदीकी मित्र से मेरी थोड़ी बहस हो गई। फलसफे के दायरे में घुसते हुए हम लोगों में इस बात पर बहस हो रही थी कि क्या जीवन में 'धूसर' जैसा कुछ होता है। बहस तब शुरू हुई जब मैंने उसके इस कथन पर गहरी आपत्ति जताई कि 'मेरे जीवन में 'धूसर' जैसा कुछ नहीं है, मैं हमेशा काले और सफेद में जीता हूँ!' इसके आगे वह इस हद तक कह गया: ''मैं अपने बच्चों को कभी नहीं सिखाऊँगा कि जीवन में धूसर जैसा भी कुछ होता है।''

मैं आशा करती हूँ कि जब मैं 'धूसर' शब्द का उपयोग करती हूँ तो आप उसका अर्थ समझ रहे होंगे। यहाँ धूसर शब्द ऐसे विभिन्न हालातों/सम्बन्धों/रवैयों/आचरणों की ओर इशारा करता है जो हमारे सामान्यतः घोषित मूल्यों के घेरे से बाहर होते हैं। उदाहरण के लिए, यद्यपि सार्वजनिक तौर पर कोई भी यह नहीं कहता कि रिश्वत लेना सही बात है, फिर भी रिश्वतखोरी फल–फूल रही है! इस विरोधाभास को आप कैसे दूर कर सकते हैं? 'स्वल्प ऐडजस्ट माड़ी.. (कृपया थोड़ा सा समझौता कर लें)' वाला रवैया इसका एक और उदाहरण है। चाहे इसे हालातों पर डालें या परिस्थितियों पर – हमारे भीतर का धूसर समय–समय पर सामने आ जाता है – चाहे हम इसे स्वीकार करें या न करें। मैं मानती हूँ कि यह स्वीकारना कठिन काम है; इसके लिए हिम्मत चाहिए।

मुझे यह जानकर घोर आश्चर्य हुआ कि इस दुनिया में ऐसे व्यक्ति भी रहते हैं जो इस बात को पूरी तरह से नजरअन्दाज करते हैं, या ऐसा विश्वास करते हैं कि दुनिया के साथ किए जाने वाले उनके आचरण/विचार/मेलजोल में कुछ भी धूसर नहीं रहता। अगले 200 किमी तक मैं मानसिक क्षोभ में गाड़ी चलाती रही और यह अविश्वास मुझे विचलित करता रहा। कई हफ्तों बाद, आखिरकार 'यूरेका' ;मैंने पा लिया) वाला एक पल आया! क्या मेरे और मेरे मित्र के बीच हुई अनबन की असली वजह यह तथ्य हो सकता था कि वह दुनिया को देखने के लिए 'विज्ञान चश्मे' का उपयोग कर रहा था और मेरा चश्मा सामाजिक विज्ञान की पृष्ठभूमि से ओतप्रोत था? क्या आपको नहीं लगता कि विज्ञान के विषय कहीं ज्यादा निश्चित, स्पष्ट, सही–गलत, और एक विशेष सीमा तक पूर्णता, प्रमाण और समापन की माँग करने वाले क्षेत्र हैं? जबकि दूसरी तरफ सामाजिक विज्ञान मेरे हिसाब से ज्यादा लचीले, समझौतापरक, और विभिन्न दृष्टिकोणों को स्वीकार करने के लिए राजी रहने वाले विषय हैं। मुझे लगता है कि यह विशेषता इस अन्तर्जात विश्वास से उपजती है कि कुछ भी परम सत्य/असत्य नहीं होता। तो अन्तर बस आपकी आँखों पर चढ़े चश्मे का है जिससे आप चीजों को देखते हैं।

मैंने अपनी नवीनतम परिकल्पना के लिए साक्ष्यों की तलाश शुरू की

और विश्वास कीजिए; जितना मैं इस बारे में सोचती हूँ उतनी ही आश्वस्त होती जाती हूँ कि सामाजिक विज्ञान की पृष्ठभूमि वाले लोग दुनिया को ऐसे चश्मे से देखते हैं जिसमें लगभग सभी कुछ समाहित रहता है, और मुश्किल से कोई चीज बाहर रखी जाती है।

और इस चश्मे के बारे में ही मैं यहाँ लिखना चाहती हूँ कि किस तरह इस विषय ने मेरे विद्यार्थी जीवन के व्यक्तित्व निर्धारक वर्षों के दौरान मेरी शिक्षा को प्रभावित किया।

देश की राजनीति पर हमेशा उत्सुकता से नजर रखने के चलते मुझे जिस डरावनी बहस की सबसे शुरुआती यादें हैं, वह है बाबरी मस्जिद की घटना। स्थानीय दंगों के चलते स्कूल बन्द कर दिए गए थे और मस्जिद पर चढ़े हुए लोगों के द्वारा अपने खड़े होने के आधार को ही गिराने की कोशिश करने के तकलीफदेह दृश्य देखने के लिए मेरे पास ढेर सारा समय था। बहुत आसानी से प्रभावित हो जाने वाली, हालाँकि बहुत जुझारू, लड़की होने के कारण मेरी त्वरित प्रतिक्रिया किसी न किसी पक्ष की तरफदारी करने की होती थी। मैं अपने असहाय माता–पिता से बहुत मुश्किल सवालात पूछती रही। कुछ लोग यह क्यों कह रहे हैं कि वे सही हैं जबकि वे तो इमारतें गिरा रहे हैं? पुलिस ऐसे लोगों को गिरफ्तार क्यों नहीं कर रही है? भोली! लेकिन उस घटना का अर्थ समझने के प्रति मैं बेहद जिज्ञासु और उत्सुक थी; यह दिमागी उथल–पुथल काफी समय तक नहीं थमी, वह मेरे स्कूल तक, और फिर सामाजिक विज्ञान की मेरी शिक्षिका तक भी पहुँची। और उन्होंने चीजों को सही परिप्रेक्ष्य में रखने का काम बहुत ही बेहतरीन ढंग से किया।

> *मुझे यह जानकर घोर आश्चर्य हुआ कि इस दुनिया में ऐसे व्यक्ति भी रहते हैं जो इस बात को पूरी तरह से नजरअन्दाज करते हैं, या ऐसा विश्वास करते हैं कि दुनिया के साथ किए जाने वाले उनके आचरण/विचार/मेलजोल में कुछ भी धूसर नहीं रहता।*

उन्होंने ब्लैकबोर्ड के केन्द्र में एक गोला खींचकर शुरुआत की। उन्होंने मुझे बताया कि वह गोला दुनिया थी। फिर उन्होंने मुझसे कहा कि मुझे जो–जो चीजें दुनिया का हिस्सा लगती हों उन्हें मैं गोले में बना दूँ। किसी भी छोटे बच्चे की तरह, मैंने उस गोले को पानी, भूमि, पहाड़ों, लोगों, अपने परिवार, मेरे कुत्ते, और अन्य चीजों को बनाकर भर दिया। मुझे अच्छे से याद है कि मैंने उस गोले में भारत लिख दिया था। और फिर उन्होंने उस गोले की बाईं तरफ एक छोटी से आकृति बना दी और उसको 'निधि' नाम दे दिया। इसके बाद उन्होंने दाईं तरफ भी उसी ढंग की एक और आकृति बनाई तथा उसे कुछ और नाम दे दिया। उन्होंने उस गोले रूपी दुनिया में कुछ और चीजें भर दीं जो उन्हें लगा कि वह दूसरा व्यक्ति उसमें चाह सकता है। फिर उन्होंने मुझे समझाया कि मैं दुनिया का एक ही हिस्सा देख रही थी और उसे उन्होंने 'मेरी दुनिया' कहा, जबकि वह दूसरा व्यक्ति दुनिया के एक अन्य हिस्से को देख रहा था, और इस तरह हम लोग एक ही दुनिया के दो अलग–अलग आयाम देख रहे थे। वे बोलीं, कि समस्या यही थी। लोग एक ही इमारत (मस्जिद और मन्दिर) में भिन्न–भिन्न यथार्थ देख रहे थे और इसीलिए वे उसे गिराने पर आमादा थे। एक और 'यूरेका' क्षण – पहली बार, मुझे अहसास हुआ कि एक ही घटना/आचरण को लेकर कथित तर्काधारों के पीछे दो बिलकुल अलग विचार प्रक्रियाएँ हो सकती हैं।

उस वक्त यह बात मुझे बहुत घबरा देने वाली लगी थी कि ऐसा भी सम्भव है कि लोगों के दो समूह उन्हीं सत्यों के अपने–अपने अलग–अलग संस्करणों को मानते हों! बड़े होने पर, अब यह अहसास करना कि लोग अलग–अलग सन्दर्भों से सोचते व आचरण करते हैं, कहीं ज्यादा स्पष्ट और महत्वपूर्ण हो गया है।

हाल ही में मैं एक नेतृत्व कोर्स के लिए अमेरिका गई थी और वहाँ हुई एक घटना ने मुझे फिर से बीते समय में पहुँचा दिया। एक नया अनुभव मेरे सामने था। 60 दिनों तक मैंने सुनसान जंगल में कुछ अमेरिकी युवाओं के साथ सुख–सुविधाओं से रहित कठोर जिन्दगी जी। हमारे इस दल की सामाजिक गतिकी बेहद चुनौतीपूर्ण थी। एक समय तो, वे लोग मेरी आदतों और मेरी शब्दावली से भी खिन्न थे – मैं हर बात के बाद 'कृपया' और 'धन्यवाद' नहीं कहती थी, सम्मान दिखाने के मेरे ढंग में बाहरी प्रदर्शन उतना प्रमुख नहीं था। और क्या आप यकीन कर सकते हैं: हमारी संध्याकालीन सभा में इस मुद्दे पर 2 घण्टे तक बहस की गई! अहा...फिर से विभिन्न सन्दर्भों वाली बात! क्या भिन्न संस्कृति के तहत हुए अपने पालन–पोषण की वजह से मेरी यह आलोचना हो रही थी? क्या हम भारतीय लोग, खुद को शब्दों के माध्यम से इतना व्यक्त करते हैं? क्या हम अलग ढंग से संवाद करते हैं? यह महसूस करते हुए कि मेरा पूरा दल एक भिन्न सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के प्रभाव में आचरण कर रहा था, क्या मेरे द्वारा उनके अवलोकनों पर निर्णय देना उचित है? यहाँ भी सामाजिक विज्ञान मुझे राहत देने के लिए हाजिर था। यह अहसास हो जाने के बाद मुझे अपने दल के साथियों के साथ रहते हुए किसी भी तरह की दिक्कत महसूस होना बन्द हो गई। मैंने जान लिया था कि हम लोगों के बीच दरअसल एक सांस्कृतिक खाई थी और मेरे बारे में उनकी टिप्पणियों में कुछ भी व्यक्तिगत या दुर्भावनापूर्ण नहीं था। तो यह एक और उदाहरण है कि किस तरह इस विषय को पढ़ने से मिली समझ ने मुझे ऐसी परिस्थिति के बारे में भी पूरी तरह से वस्तुनिष्ठ बना दिया जो एक नाजुक स्थिति कही जा सकती थी।

वस्तुनिष्ठता और अलग–अलग दृष्टिकोणों की बात करते हुए, मुझे स्कूल की एक जीवन्त स्मृति विशेष रूप से याद आती है। नागरिक शास्त्र की कक्षा की एक विशेषता थी कि अक्सर विद्यार्थियों द्वारा बेहद विवादात्मक दृष्टिकोण अपना लिए जाते थे – खासतौर पर तब जब संसदीय लोकतंत्र की बात होती थी। भ्रष्टाचार, चुनावों, अनैतिक राजनैतिक सौदेबाजी, आदि के बारे में कठिन सवाल उठाए जाते थे। पर हमारी शिक्षिका उन सभी बातों को बहुत खूबसूरती से सम्हालते हुए चलती थीं। अब सोचती हूँ तो समझ में आता है कि उन्होंने हमेशा मुद्दों को लेकर हमें कोई उत्तर नहीं दिए बल्कि चर्चाओं को खुला रहने दिया। हम अक्सर, यह कहते हुए उनकी निन्दा करते कि 'उन्हें कोई न कोई रुख अपनाना ही चाहिए'। क्या हमें भी यही नहीं सिखाया गया था? किसी भी मुद्दे पर एक रुख अख्तियार कर लेना, स्कूल में – और मैं कहूँगी जीवन में भी – जीवित रहने और आगे बढ़ने के लिए सबसे महत्वपूर्ण बात प्रतीत होती थी। छोटे में, अक्सर दोस्तों के बीच एक दूसरे से पूछा जाता था 'बताओ, तुम किसके दोस्त हो, हमारे या उनके?' और उत्तर उस बच्चे के सामाजिक दायरे को निर्धारित करता था। मेरी सीमित कल्पनाशक्ति हमेशा मेरे गणित के शिक्षक के इन शब्दों से त्रस्त रहती थी कि या तो आप 'सही' हल करते हैं या 'गलत'। मैं अक्सर सोचा करती कि सवालों के या बातों के दो सही उत्तर क्यों नहीं हो सकते? दुनिया हमेशा ही निश्चितता में डूबी हुई क्यों रहती थी? हमेशा ही या तो 'इधर' या 'उधर'।

शायद इसीलिए मुझे अपनी सामाजिक अध्ययन की कक्षा में सबसे ज्यादा मजा आता था, क्योंकि उसमें मुझे दो भिन्न और परस्पर विरोधी दृष्टिकोणों का, बगैर उनमें से किसी की भी तरफदारी किए, अर्थ समझने का मौका मिलता था। चीजों को लेकर मेरी दृष्टि को पूर्णरूप से नकार देने के लिए कोई साक्ष्य नहीं होता था। उदाहरण के लिए, मैं हमेशा सोचा करती थी कि जब ये राजा लोग लड़ाइयाँ करते रहते थे और अपने राज्यों का विस्तार करते थे तो आम

आदमी क्या करता रहता था। बहुत सारा वक्त तो मैं इस पशोपेश में बिताती थी कि क्या पुराने समय में हर दूसरा व्यक्ति सैनिक हुआ करता था। क्या उन दिनों में हमारे जैसे साधारण मनुष्य भी होते थे – या फिर कि लोग केवल श्रेष्ठिजन, शिल्पकार, सैनिक या फिर ब्राम्हण ही होते थे? क्या लोग केवल लड़ाइयाँ ही लड़ते थे या कि उन्हें शान्तिपूर्ण जीवन जीने का मौका भी मिलता था? राजाओं के व्यक्तित्व के 'नकारात्मक अन्धेरे' पहलू के बारे में इतना कम क्यों सुनने में आता है? अक्सर, इन बातों को मेरी कल्पनाशक्ति पर छोड़ दिया जाता था और मेरी शिक्षिका की ओर से बहुत थोड़े से संकेत या सुझाव मिलते थे। पर सुन्दर बात यह थी कि मेरी शिक्षिका मेरे द्वारा नई चीजें सीखने और उनके मुताबिक अपनी दिशा तय करने के प्रति खुला रवैया रखती थीं। 'एक सही' और 'एक गलत' के लिए मेरा मजाक नहीं बनाया गया। 'सही बातों' और 'गलत बातों' की यह स्वीकृति विविधता बेहद प्रेरणादायी थी।

> *मुझे अपनी सामाजिक अध्ययन की कक्षा में सबसे ज्यादा मजा आता था, क्योंकि उसमें मुझे दो भिन्न और परस्पर विरोधी दृष्टिकोणों का, बगैर उनमें से किसी की भी तरफदारी किए, अर्थ समझने का मौका मिलता था।*

समय बीतने के साथ, अपने रुख/या 'सही' और 'गलत' की अपनी अवधारणा को उचित ठहराने की जरूरत कम होती गई। जैसे जैसे वर्ष बीतते गए, और मैंने कठिन प्रश्नों, जैसे बाँधों का निर्माण, वनों का उन्मूलन, वन्यजीवों का शिकार, स्थानीय लोगों का पुनर्स्थापन और प्राकृतिक संरक्षण से छेड़छाड़, से जूझना शुरू किया तो मेरी सामाजिक विज्ञान की पढ़ाई से मुझे बहुत मदद मिली; इससे मैं विभिन्न दृष्टिकोणों को सराहने और उनका आदर करने में समर्थ हो पाई। मैं किसी एक रूढ़िवादी सिद्धान्त से चिपके रहने, और उसी के हिसाब से अपना जीवन जीने के लिए मजबूर नहीं थी। विभिन्न मतों से परिचित हो सकने, गलतियाँ कर सकने, जीवन के विविध पहलुओं को देख सकने, विभिन्न दृष्टिकोणों का आकलन कर सकने का आनन्द; तथा सामन्जस्य, समझौतों व समस्या–निवारण की कला सीखना, मेरे लिए इस विषय से प्राप्त सबसे बड़ी उपलब्धियाँ रही हैं।

मैं इस बात की तो गवाही देती ही हूँ कि इस विषय ने अपने आसपास के संसार के साथ मेरे ताल्लुकातों को तय करने के ढंग में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है, पर साथ ही इसने मेरे चयनों, पारस्परिक क्रियाकलापों, सम्बन्धों को ज्ञान का आधार दिया है जिससे मैं अपने भीतर अपनी आत्मसत्ता का, मानवता का और विकल्पों का भान जीवित रख सकी हूँ। अक्सर, इस विषय की माँग रही है कि मैं अपने सुविधापूर्ण दायरे से बाहर निकलूँ; सीखूँ कि लोग अलग–अलग सन्दर्भों के प्रभाव में कार्य करते हैं और मेरे चश्मे से उनके आचरणों पर फैसला नहीं सुनाया जा सकता क्योंकि दुनिया को देखने के उनके अपने चश्मे हैं। वाकई मेरे लिए यह यात्रा एक गहरी समझ और परख देने वाली रही है।

निधि तिवारी *लगभग पिछले एक दशक से मीडिया एडवोकेसी तथा डॉक्यूमेंटेशन गतिविधियों में शामिल रही हैं। स्वतंत्र लेखिका के रूप में उन्होंने पर्यावरण, विकास और नागरिकों के मुद्दों से सम्बद्ध कई राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय प्रकाशनों में योगदान दिया है। वर्तमान में वे अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन के एडवोकेसी एण्ड कम्यूनिकेशन समूह के साथ सलाहकार के तौर पर जुड़ी हुई हैं। अपने नगर–आधारित कार्यों के अलावा, वे स्वयं के द्वारा शुरू की गई एक पारिस्थितिक–पर्यटन पहल के माध्यम से कर्नाटक की शरावती घाटी के स्थानीय समुदायों के साथ निकटता से जुडकर कार्य करती हैं। उनसे इस nidhi@azimpremjifoundation.org ईमेल पते पर सम्पर्क किया जा सकता है।*